बालमन की आरंभिक अभिव्यक्ति

दीवार पर चित्रकारी

वरिष्ठ पत्रकार कुमार सौवीर की कलम का कायल हूं। पिछले दिनों उनसे मिलने कलाकार मित्र भूपेंद्र अस्थाना के साथ उनके आवास मोतीनगर, लखनऊ जाना हुआ। देर रात तक ढेरों बतकही और चर्चाओं के बीच रात्रि भोजन का दौर चला।

सुमन कुमार सिंह
कलाकार/कला लेखक

अपनी तरह के संभवतः इकलौते मन मिजाज वाले इन जैसों से मिलना, नई जानकारियों एवं संस्मरणों का पिटारा खुलने जैसा लगता है। इन सभी बातों के बावजूद उनके इस घर ने जिस चीज से बेहद प्रभावित किया, वह था पूरे घर की दीवारों पर मौजूद चित्रकारी। पूरे घर में कोई भी ऐसी दीवार या कोना नहीं था, जो चित्रों से सजा नहीं था। वैसे इससे पहले भी हमने कई घर की दीवारों पर बच्चों द्वारा बनाए चित्र देखे हैं, किंतु पहली बार किसी ऐसे घर में था, जिसका इंच दर इंच इन चित्रों से भरा था।

हम कलाकारों का तो मानना है कि इस तरह के बच्चों को भरपूर प्रोत्साहन मिलना चाहिए। क्योंकि घर की दीवारों को तो आप कभी भी साफ कर सकते हैं। किंतु अपने बच्चों का बचपन आप दुबारा लौटा नहीं सकते हैं। शायद इसीलिए निदा फाजली साहब ने कहा है: बच्चों के छोटे हाथों को चांद सितारे छूने दो/चार किताबें पढ़कर ये भी हम जैसे हो जाएंगे।

बच्चों द्वारा रेखाएं खींचने या घर की दीवारों पर चित्र बनाने की इस प्रक्रिया के बारे में समझा जाता है कि इसके जरिए वे अपनी उपस्थिति दर्शाना चाहते हैं। यहां यह प्रयास कुमार सौवीर के नाती भावार्थ मिश्र की अभिव्यक्ति थी। बच्चों द्वारा इस अभिव्यक्ति पर वरिष्ठ कला इतिहासकार/समीक्षक जोनी एमएल की टिप्पणी है कि -" चित्र बनाना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। दरअसल इसके जरिए वे किसी न किसी रूप में इस संसार पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराना चाहते हैं। दीवारों पर चित्र बनाना इसी मूल प्रवृत्ति का प्रारंभिक रूप है, जो मनुष्य में बचपन से ही दिखाई देता है। बच्चे जब दीवारों पर चित्र बनाते हैं, तो वे केवल खेल नहीं कर रहे होते, बल्कि अपनी दुनिया को समझने और उसे व्यक्त करने का प्रयास कर रहे होते हैं।

बड़ों को ये चित्र भले ही सरल, भोले या अर्थहीन प्रतीत हों, परंतु वास्तव में ये चित्र बच्चों की अपनी जटिल प्रतीकात्मक भाषा का हिस्सा होते हैं। उनके लिए यह अपने आसपास की दुनिया से संवाद और सामंजस्य बनाने की प्रक्रिया का सर्वाधिक सहज और सुलभ माध्यम है। आगे चलकर जब उन्हें अभिव्यक्ति के अन्य साधन मिल जाते हैं, तो अधिकांश लोग इस तरह के चित्र बनाना अक्सर छोड़ ही देते हैं, लेकिन कुछ लोग जो इस प्रवृत्ति को बनाए रखते हैं, वही आगे चलकर चित्रकार बनते हैं।"

वहीं मनोविज्ञान बच्चों द्वारा घर की दीवारों पर चित्र बनाने की इस प्रवृत्ति को शरारत या अनुशासनहीनता के रूप में नहीं, बल्कि उनके स्वाभाविक विकासक्रम के एक महत्वपूर्ण चरण के रूप में देखता है। विकासात्मक मनोवैज्ञानिक जैसे जीन पियाजे का मानना है कि प्रारंभिक अवस्था में बच्चा प्रतीकों के माध्यम से संसार को समझना शुरू करता है। दीवार पर रेखाएं खींचना उसके लिए केवल आकृति बनाना नहीं, बल्कि अनुभवों को व्यवस्थित करने का प्रयास है। इसी प्रकार सिगमंड फ्रायड की मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से यह क्रिया दबी हुई इच्छाओं, जिज्ञासा और आत्म-अभिव्यक्ति का रूप हो सकती है। आधुनिक बाल मनोविज्ञान इसे स्किल विकास, रचनात्मकता और आत्म पहचान के निर्माण से भी जोड़ता है।

इस तरह से देखें तो दीवारों पर बने चित्र बच्चे की आंतरिक दुनिया, उसकी भावनाओं और परिवेश से उसके संवाद का दृश्य दस्तावेज माने जाते हैं। इसलिए अनुरोध है कि अब जब भी आपका बच्चा घर की दीवारों पर अपनी दुनिया उकेरने लगे तो उसे रोकिए नहीं, बल्कि प्रोत्साहन स्वरूप पुरस्कार प्रदान करें। क्योंकि यह उस बच्चे की अपनी दुनिया रचने या सिरजने के लिए खुला आकाश दे दीजिए। मेरे लिए ऐसे तमाम माता-पिता और अभिभावक स्तुत्य हैं, जो अपने बच्चों के लिए घर की दीवारों की सफेदी की कुर्बानी देने से हिचकते नहीं हैं। वैसे तो इन बाल कलाकार का नाम है 'भावार्थ मिश्रा', लेकिन नानाजी यानी कुमार सौवीर ने इन्हें नाम दिया है 'च्यवनप्राश'।

अनोखी परंपरा

डेनमार्क में अविवाहितों का खास दिन मसालों की होली

शादी को लेकर एक मशहूर कहावत है- "शादी का लड्डू जो खाए वो पछताए और जो न खाए वो भी पछताए।" यह कहावत भले ही मजाकिया अंदाज में कही जाती हो, लेकिन दुनिया के अलग-अलग देशों में विवाह और अविवाहित जीवन से जुड़ी अनेक रोचक परंपराएं प्रचलित हैं। ऐसी ही एक अनोखी परंपरा यूरोप के देश डेनमार्क में देखने को मिलती है, जिसके बारे में जानकर आपको हैरानी भी होगी और मुस्कान भी आ जाएगी।

डेनमार्क में यदि कोई युवक या युवती 25 वर्ष की आयु तक अविवाहित रहता है, तो उसके मित्र एक विशेष रस्म निभाते हैं। इस अवसर पर उसे किसी लैंप पोस्ट, खंभे या पेड़ से बांध दिया जाता है और फिर उस पर दालचीनी पाउडर सहित विभिन्न मसालों की वर्षा की जाती है। पूरा वातावरण मसालों की खुशबू और उड़ते पाउडर से भर उठता है। दृश्य इतना रंगीन और उत्साहपूर्ण होता है कि देखने वालों को भारत की होली की याद आ जाए। फर्क बस इतना है कि यहां रंगों की जगह गरम मसालों का प्रयोग होता है।

यह परंपरा केवल मजाक या शरारत भर नहीं है, बल्कि इसके पीछे एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी बताई जाती है। पुराने समय में डेनमार्क में मसाले बेचने वाले सेल्समैन एक शहर से दूसरे शहर घूमते रहते थे। लगातार यात्राओं के कारण वे समय पर विवाह नहीं कर पाते थे। ऐसे अविवाहित पुरुषों को 'पेबरस्वेन्ड्स' और महिलाओं को 'पेबरमो' कहा जाता था। धीरे-धीरे उन्हें मसालों से सराबोर करने की परंपरा शुरू हुई, जो आज तक एक सामाजिक उत्सव के रूप में निभाई जाती है। मान्यता यह भी है कि जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे मसालों की मात्रा भी बढ़ाई जाती है। इस रस्म के दौरान दोस्त और परिजन खुले मैदान, पार्क या लॉन में एकत्र होते हैं। हंसी-ठिठोली, खाने-पीने और मस्ती के बीच अविवाहित व्यक्ति को सिर से पांव तक दालचीनी से ढक दिया जाता है। अंत में पानी डालकर मसालों को धोया जाता है। पूरा आयोजन उत्सव जैसा माहौल पैदा कर देता है। यदि भारतीय परंपराओं से इसकी तुलना करें, तो शादी से पहले होने वाली हल्दी की रस्म का स्मरण हो आता है। भारत में हल्दी लगाने को शुभ माना जाता है। मान्यता है कि यह दूल्हा-दुल्हन को नकारात्मक प्रभावों से बचाती है। कई स्थानों पर हल्दी के बाद वर-वधू को घर से बाहर निकलने की अनुमति नहीं होती और उन्हें बुरी नजर से बचाने के लिए पवित्र धागा या ताबीज भी बांधा जाता है।

डेनमार्क की यह परंपरा भले ही हंसी-मजाक से जुड़ी हो, पर इसे वहां आज भी उत्साहपूर्वक निभाया जाता है। दिलचस्प बात यह है कि इसे शुभ संकेत माना जाता है और विश्वास किया जाता है कि इस रस्म के बाद अविवाहित युवक-युवतियों को शीघ्र ही उपयुक्त जीवनसाथी मिल जाता है।

आर्ट गैलरी

प्रकृति का प्रचंड रूप और शाश्वत शांति : द ग्रेट वेव ऑफ कानागावा

'द ग्रेट वेव ऑफ कानागावा' विश्व कला इतिहास की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृतियों में से एक है। यह काष्ठछाप (वुडब्लॉक प्रिंट) उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में बनाई गई थी और यह 'थर्टी-सिक्स व्यूज ऑफ माउंट फूजी' श्रृंखला का हिस्सा है। चित्र में समुद्र की एक विकराल लहर अपने चरम पर उठी हुई दिखाई देती है। उसकी फेनिल धाराएं पंजों की भांति फैलकर सामने चल रही नौकाओं को अपने आगोश में लेने को तत्पर प्रतीत होती हैं। इन छोटी नौकाओं में बैठे मछुआरे प्रकृति की प्रचंड शक्ति के सामने अत्यंत क्षुद्र और असहाय नजर आते हैं।

चित्र की पृष्ठभूमि में शांत, स्थिर और दूर खड़ा फूजी पर्वत दिखाई देता है। उग्र समुद्र और अडिग पर्वत के बीच का यह विरोधाभास जीवन के गहरे दार्शनिक अर्थों को व्यक्त करता है, अस्थिरता और स्थिरता, भय और विश्वास, क्षणभंगुरता और शाश्वतता। चित्र में प्रयुक्त गहरा नीला रंग, विशेषत: 'प्रशियन ब्लू', समुद्र की गहराई और रहस्यमयता को उभारता है। यह कृति केवल एक प्राकृतिक दृश्य नहीं, बल्कि मनुष्य और प्रकृति के संबंध का सशक्त प्रतीक है।

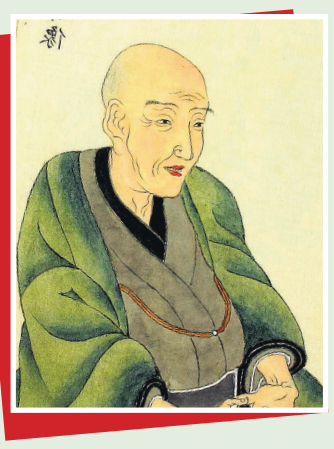

कात्सुशिका होकुसाई के बारे में

कात्सुशिका होकुसाई (1760-1849) जापान की 'उकियो-ए' कला परंपरा के महानतम कलाकारों में गिने जाते हैं। 'उकियो-ए' का अर्थ है- "क्षणभंगुर संसार के चित्र।" इस शैली में नगर जीवन, प्रकृति, अभिनेत्रियां, योद्धा और दैनिक जीवन के विविध दृश्य अंकित किए जाते थे। होकुसाई ने अपने लंबे और सक्रिय जीवन में लगभग तीस हजार से अधिक चित्र, रेखांकन और काष्ठछाप कृतियां निर्मित कीं। वे अत्यंत प्रयोगशील और जिज्ञासु स्वभाव के कलाकार थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में कई बार अपना नाम बदला, जो उनके निरंतर विकसित होते कलात्मक व्यक्तित्व का संकेत था। होकुसाई का मानना था कि वे जीवन के अंतिम चरणों में जाकर ही सच्चे अर्थों में उत्कृष्ट कला रच पाएंगे। उनकी रचनाओं में प्रकृति के प्रति गहरा आकर्षण, सूक्ष्म अवलोकन और रेखाओं की अद्भुत ऊर्जा दिखाई देती है। होकुसाई का प्रभाव केवल जापान तक सीमित नहीं रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप में 'जापोनिज्म' आंदोलन के दौरान उनकी कृतियों ने अनेक पाश्चात्य कलाकारों को प्रेरित किया। आज वे विश्व कला जगत में एक कालजयी नाम के रूप में प्रतिष्ठित हैं और 'द ग्रेट वेव ऑफ कानागावा' उनकी अमर पहचान बन चुकी है।

लोकायन

प्रेम, आस्था और संस्कारों का संगम

विवाह केवल दो व्यक्तियों का नहीं, बल्कि दो कुलों और परंपराओं का संगम माना जाता है। इसी सांस्कृतिक विरासत का एक महत्वपूर्ण अंग है कोहबर की परंपरा, जो आज भी पूरी आस्था और उत्साह के साथ निभाई जाती है। कोहबर परंपरा आज भी बिहार खासकर मिथिलांचल में प्रचलित है। कोहबर केवल दीवार पर बनाई गई एक आकृति भर नहीं है, बल्कि यह नवदंपति के जीवन की मंगलकामना, कुलदेवता के आशीर्वाद और पारिवारिक परंपराओं का जीवंत प्रतीक है।

अरूणिमा सिंह
लेखिका

'कोहबर' शब्द का अर्थ है वह स्थान जहां विवाह के बाद वर-वधू का प्रथम मिलन होता है। जिस कक्ष में कुलदेवता की स्थापना की जाती है, उसे भी कोहबर कहा जाता है। इसे कुछ स्थानों पर 'कौतुकगार' नाम से भी जाना जाता है। विवाह के बाद जब वधू पहली बार वर का दर्शन करती है, उस पावन क्षण को भी कोहबर की संज्ञा दी जाती है।

मातृपूजन, जिसे मटकोर या भत्तवान भी कहा जाता है, उसी दिन कोहबर बनाने की शुरुआत होती है। एक ओर मंडप में पूजा-अर्चना चलती है, तो दूसरी ओर परिवार की नेगहरुवा बुआ या कोई अनुभवी महिला गोबर से दीवार पर कोहबर की रूपरेखा उकेरती हैं। सबसे पहले गोबर से आधार तैयार किया जाता है और बीच में पांच पिंडियां बनाई जाती हैं। कुलदेवता के समीप जो मुख्य कोहबर बनता है, उसमें इक्कीस पिंडियां लगाई जाती हैं, जबकि अन्य स्थानों पर पांच-पांच पिंडियां ही होती हैं।

आमतौर पर एक बड़ा कोहबर कुलदेवता के पास बनाया जाता है, दो उसी कक्ष के द्वार के दोनों ओर और दो मुख्य द्वार के दोनों तरफ। मातृपूजन के दिन कोहबर बन जाने के बाद कुलदेवता, सिल-लोढ़ा और पहरुवा प्रतीकात्मक रूप से बांध दिए जाते हैं। विवाह वाले दिन प्रातः गोबर से बने कोहबर को गेरू से सजाकर अधिक आकर्षक रूप दिया जाता है। विवाह से पूर्व इन प्रतीकों को खोलते हुए आग्रह किया जाता है कि वे भी वर-वधू को आशीर्वाद देने चलें।

विवाह उपरांत नवदंपति को कुलदेवता के समीप बने कोहबर में ले जाया जाता है। वहीं 'लपकौर' की रस्म होती है, जिसमें दही-गुड़ एक-दूसरे को खिलाया जाता है और 'बाती मिलाने' की रस्म निभाई जाती है। इसी स्थान पर अंगूठी खोजने की रस्म भी होती है। यह परंपरा दोनों पक्षों में अलग-अलग अवसरों पर संपन्न की जाती है।

नब्बे के दशक तक कई घरों में विवाह से पूर्व वर-वधू का मिलना सामान्य नहीं था। ऐसे में कोहबर ही वह अवसर बनता था, जब दोनों पहली बार एक-दूसरे से खुलकर मिलते थे। बाती मिलाने के समय दूल्हे का मुस्कराते हुए शर्त रखना- "पहले दुल्हन का मुख दिखाइए" इन पलों को और भी मधुर बना देता था। कभी-कभी कुछ क्षण अकेले में बातचीत की अनुमति भी मिल जाती थी। कोहबर में बिताए ये छोटे-छोटे पल ही नवजीवन की नींव रखते थे। इन्हीं स्मृतियों के सहारे वर-वधू विवाह और गौने के बीच के समय को मधुर प्रतीक्षा में बिताते थे। यही कारण है कि कोहबर केवल एक रस्म नहीं, बल्कि प्रेम, विश्वास और पारिवारिक आशीर्वाद का अमिट प्रतीक है।

भारत की आदिवासी-लोक चित्रकला

वर्तमान में ऐसे आदिवासी- लोक शिल्पियों एवं कलाकारों की संख्या बहुत ही कम रह गई है, जो अपनी कला के अतीत एवं पारंपरिक ज्ञान के बारे में बता सकते हैं। यह मेरा सौभाग्य रहा कि मैं ऐसे अनेक कलाकारों से मिल सका और उनके वर्षों के अनुभवों को लिपिबद्ध कर सका। मैंने भारत के मध्यप्रदेश क्षेत्र के लगभग सत्तर आदिवासी–लोक चित्रकारों की पहचान की, उनके साक्ष्य में विवरण जुटाए, उनके फोटोग्राफ लिए, जिनका संकलन इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है।

भारत अपनी सांस्कृतिक विविधता के लिए विश्वविख्यात है। यहां प्रत्येक सांस्कृतिक अंचल की अपनी विशिष्ट आदिवासी-लोक कलाएं हैं। लोक शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- लोक एवं कला। लोक से आशय उन सामान्य जनों से है, जो ग्रामीण भारत में बसते हैं अथवा वहां से निकलकर नगरों में आ बसे हैं, परंतु अपनी ग्रामीण परंपराओं, लोक–रीतियों, विश्वासों और मान्यताओं से गहरे जुड़े हैं। इन्हीं सामान्य जन द्वारा किया गया कलाकर्म लोककला है। इस पुस्तक में भारत की आदिवासी- लोक चित्रकला को परिभाषित एवं व्याख्यायित कर उसके विभिन्न क्षेत्रीय रूपों के उदाहरणों को समाहित किया गया है। पुस्तक का एक अध्याय आदिवासी-लोक चित्रकला को परिभाषित करने, उसकी व्याख्या करने और उसे वर्गीकृत करने में समर्पित है, जिसके कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं-भारतीय लोक जीवनमान में चित्रों की मान्यताओं के सांस्कृतिक महत्व को प्राचीन काल से ही स्वीकार किया गया है। इसके माध्यम से परंपरागत एवं अलौकिक शक्तियों से संवाद स्थापित करने में प्रयासरत रहे हैं। उन्होंने सामुदायिक स्तर पर एक चित्रभाषा विकसित की जिसमें अनेक प्रतीक, अभिप्राय एवं संकेतों को विकसित कर लिया गया, जिन्हें वे अपनी पीढ़ियों को सहज ही हस्तांतरित करते चले गए। प्रत्येक पीढ़ी ने इन्हें अपने समय के अनुरूप समृद्ध किया है और आज इनमें रूपांतरित स्वरूप हमारे समक्ष है।

अपने परंपरागत स्वरूप में आदिवासी-लोक चित्रकला क्षेत्र विशेष या समुदाय विशेष के जन-सामान्य द्वारा किया गया वह कलाकर्म है, जिसके मूल में शुभ और विवेक होता है और अवसर विशेष से जुड़े अनुष्ठान एवं मान्यताओं को संपन्न करने हेतु किया जाता है। मूलतः यह कलाकर्म आर्थिक लाभ हेतु नहीं, बल्कि अपने जीवन की कठिनाइयों और समस्याओं से उबरने हेतु, सुख एवं शांति पाने हेतु पारंपरिक श्रद्धाओं से आशीर्वाद प्राप्ति के लिए किया जाता है। यह चित्र प्रार्थनाएं हैं, जिनके माध्यम से वे लोक एवं परलोक के मध्य संवाद स्थापित करते हैं, अपने इष्ट देवी-देवताओं को आह्वान करते हैं, उन्हें मनाते हैं, उनका धन्यवाद ज्ञापित करते हैं और उनकी अपेक्षाएं रखते हैं। यह चित्र मात्र सजावटी वस्तु नहीं, आदिवासी-लोक जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। यह आदिवासी-लोक कलाकारों के विश्वदृष्टि एवं सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं का ही है, जो उनकी कला में व्यक्त होती हैं। नगर कला जहां मानव का मानव को संबोधन है, वहीं पारंपरिक आदिवासी-लोक चित्रकला मानव का मानव के साथ देवताओं को संबोधन भी है। लोक एवं परलोक के मध्य इस संवाद के अर्थ वहीं उन चित्रों के साथ आदिवासी-लोक कलाकारों की विश्वदृष्टि एवं सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं में निहित हैं। इन्हें समझे बिना पारंपरिक आदिवासी लोक चित्रकला को समझना भी संभव नहीं है।

मुश्ताक खान
लेखक, नई दिल्ली

रंग तरंग

होली जैसे मैंने देखी

बरेली में होली अनोखे ढंग से मनाई जाती रही है। पिछले लगभग 80 वर्षों में मैंने इसके स्वरूप में अनेक परिवर्तन होते देखे हैं। पहले होली की तैयारी पंद्रह दिन पहले ही शुरू हो जाती थी और एक सप्ताह पूर्व से ही रंगबाजी प्रारंभ हो जाती थी। मोहल्लों के लड़के गलियों के बाहर, नुक्कड़ों पर झुंड बनाकर खड़े हो जाते थे और राह चलते लोगों पर पानी और रंग डालते थे। इस दौरान झगड़ा भी हो जाता था, और ऊंची आवाज में हुड़दंग करते दिखाई देते थे। लड़कों को इसमें बड़ा आनंद आता था। होली के एक दिन पहले बड़े-बड़े कड़ावों और ड्रमों में रंग घोलकर तैयारियां की जाती थीं। हैंडपंपों से रंगों के मोर्चे लगते थे और एक-दूसरे के चेहरे पर रंगों की बौछार की जाती थी। जिसका मुंह पहले पलट जाता, उसे हारा हुआ माना जाता था। इन रंगीले मुकाबलों के बाद सब एक-दूसरे को रंग लगाते और हुरियारे मिलकर होली के नारे लगाते थे। साथ ही बमनपुरी से होली की राम बारात निकलती थी, जो आज भी परंपरा के रूप में निकलती है।

अब समय बदल गया है और होली के उत्सव में भी बड़ा परिवर्तन आया है। आज होली केवल एक या आधे दिन का उत्सव बनकर रह गई है। पहले जैसे हुरियारों के बड़े झुंड दिखाई नहीं देते। लड़ाई-झगड़े लगभग समाप्त हो गए हैं। आज होली अपेक्षाकृत शालीनता और प्रेम के साथ मनाई जाती है। दोपहर के बाद लोग नए कपड़े पहनकर होली मिलाप मेले में पहुंचते हैं। वहां एक-दूसरे से गले मिलते हैं, बधाइयां देते हैं। छोटे-बड़े सभी आपसी सम्मान के साथ मिलते हैं और छोटे, बड़ों के पैर छूकर आशीर्वाद लेते हैं।

-महेंद्र कुमार सक्सेना, चित्रकार